

## हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी नारियों का आर्थिक संघर्ष

सुमन बारला & डॉ. महेन्द्र कुमार वर्मा

अतिथि प्रवक्ता, हिन्दी विभाग

जवाहरलाल नेहरू राजकीय महाविद्यालय

श्रीविजयपुरम, अंडमान निकोबार

भारत के आदिवासी समाज की अपनी विशिष्ट जीवनशैली है, जो अन्य समाजों से सर्वथा भिन्न और प्रकृति के अत्यंत समीप है। इस समाज की नारियाँ विशेष रूप से इस जीवनशैली की आधारशिला रही हैं। उनका जीवन पूरी तरह से प्रकृति पर आधारित रहा है, क्योंकि वे प्राचीन काल से ही वनों, पर्वतों, नदियों और घाटियों जैसे दुर्गम स्थलों में निवास करती आई हैं। प्रकृति की गोद में पली-बढ़ी इन नारियों ने न केवल अपने परिवार के पोषण की जिम्मेदारी निभाई, बल्कि समाज की आर्थिक रीढ़ भी बनीं। आदिवासी महिला का जीवन प्रकृति से इतना गहराई से जुड़ा हुआ है कि उसकी दिनचर्या, परंपराएँ, विश्वास और आजीविका सब कुछ प्रकृति पर निर्भर करते हैं। वनों से प्राप्त लकड़ी, फल, कंद-मूल, जड़ी-बूटियाँ, बांस आदि उनके जीवन के अभिन्न अंग हैं। यही कारण है कि उनकी आर्थिक आवश्यकताएँ भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इन्हीं संसाधनों से पूरी होती रही हैं। प्राचीन काल में आदिवासी समाज का जीवन अत्यंत सरल एवं स्वावलंबी था। जीवन में वस्तुओं के आदान-प्रदान से ही अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। धन का महत्व गौण था। आदिवासी महिलाएँ अपने श्रम और कौशल से परिवार के लिए आवश्यक वस्तुएँ स्वयं जुटा लेती थीं। वे कृषि में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करतीं, जंगलों से भोजन, ईंधन व अन्य उपयोगी वस्तुएँ एकत्र करतीं और परिवार के भरण-पोषण में केंद्रीय भूमिका निभाती थीं। वर्तमान समय में जब संपूर्ण विश्व तेजी से बाजारवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति की ओर बढ़ रहा है, तब आदिवासी समाज भी इससे अछूता नहीं रह गया है। जीवन अब केवल प्रकृति पर आधारित नहीं रह गया, बल्कि आर्थिक संसाधनों की आवश्यकता अधिक होने लगी है। ऐसे में आदिवासी महिलाएँ भी पारंपरिक भूमिकाओं से आगे बढ़कर नए व्यवसायों से जुड़ने लगी हैं। वे जंगलों से खाद्य सामग्री, औषधीय पौधे एवं वनोपज का संग्रहण करती हैं, जिन्हें बाजार में बेचकर धन अर्जित करती हैं। इसके अलावा वे बकरी पालन, मुर्गी पालन, झाड़ू-बनाई, टोकरी बुनाई, हथकरघा आदि जैसे लघु एवं कुटीर उद्योगों से भी जुड़ने लगी हैं। इंटरनेट के इस तेज रफ्तार युग में, जहाँ मनुष्य एक ही स्थान पर बैठे-बैठे पूरे विश्व की सैर कर सकता है, वहीं जीवन की सभी आवश्यक वस्तुएँ ऑनलाइन माध्यम से मात्र एक आदेश पर घर के द्वार पर उपलब्ध हो जाती हैं। ऐसे तकनीकी और मशीनी युग में भी समाज का एक वर्ग आदिवासी समुदाय आज भी बुनियादी सुविधाओं से वंचित है। अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आदिवासी नारियाँ जंगलों से प्राप्त वनोपज को बेचने के लिए मीलों पैदल चलकर स्थानीय हाट-बाजारों में आती हैं। गरीबी से जूझती ऐसी ही एक आदिवासी नारी का संवेदनशील चित्रण महुआ माझी ने अपने उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में किया है। इस उपन्यास में आदिवासी स्त्री की संघर्षपूर्ण दिनचर्या का उल्लेख करते हुए लेखिका लिखती हैं- "सारंडा की सात सौ पहाड़ियों में से एक पहाड़ी के बीच किसी दुर्गम घाटी वाले हतु या सई से आई थी वह। टोकरी भर पके हुए तिरिल (कंद) फल बेचने... तिरिल खरीदने इक्के-दुक्के ग्राहक ही आ रहे थे... हाट में अपना-अपना सामान बेचकर जो पैसे मिलते हैं, उनसे नमक और चावल ही खरीदा जा सके तो बहुत है।" आदिवासी नारियों के

लिए वनों से प्राप्त होने वाली सभी वस्तुएँ आर्थिक कमाई का साधन रही हैं, किंतु इनमें सबसे अधिक मूल्यवान उनके लिए महुआ है। आदिवासी समाज में महुआ का महत्व किसी सोने से कम नहीं आँका जाता। महुआ का उपयोग भोजन के रूप में भी किया जाता है तथा उससे देशी शराब भी बनाई जाती है। यही कारण है कि महुआ, चाहे जिस भी रूप में और जहाँ से भी प्राप्त हो, आदिवासी महिलाएँ उसे एकत्रित करने का कोई अवसर नहीं छोड़तीं। वनोपज महुआ की उपयोगिता और उसके संग्रहण में आदिवासी नारियों की कठिन मेहनत को राकेश कुमार सिंह ने अपने उपन्यास 'महाअरण्य में गिद्ध' में प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। आर्थिक दृष्टि से महुए का महत्व आदिवासी नारियाँ भली-भाँति समझती हैं, इसीलिए वे न केवल उसका संग्रहण करती हैं, बल्कि उसे पालतू पशुओं से बचाने का भी हर संभव प्रयास करती हैं। इस संदर्भ का वर्णन राकेश कुमार सिंह के 'महाअरण्य में गिद्ध' उपन्यास में इस प्रकार वर्णित किया गया है- "निकट के गाँव -टोले की स्त्रियाँ दिन के तीसरे पहर से सूरज के डूबने तक मेले में पहुँचती रहती थीं और रात अधियाने तक मेले से निवृत्त होकर वापस अपने गाँव के लिए लौट पड़ती थीं ताकि भोर में महुआ बीनने का अनिवार्य कार्य कदापि नागा न हो सके। भोर हो चुकने के बाद जंगली सूर और चरने के लिए छोड़े गये द्वोर-डॉंगर महुए के फूल खाने लगते हैं। महुए की उपेक्षा किसी कीमत पर नहीं की जा सकती क्योंकि भूमिहीन निर्धन वनवासियों के लिए महुआ ठहरा जंगल का खरा सोना... वृक्षों की छाया में टपक कर चाँदर की भाँति बिछा ताजा महुआ हो या सूखा लिया गया फूल... जब इच्छा हो नकदी में बदली जा सकने वाली बिन पूंजी की फसल है यह प्रकृति प्रदत्त वरदान।" आदिवासी समाज में पारिवारिक जीवन की धुरी प्रायः नारी होती है। परिवार के भरण-पोषण की संपूर्ण जिम्मेदारी उसी के कंधों पर होती है। इस दायित्व के निर्वहन हेतु वह प्रतिदिन जंगलों की ओर प्रस्थान करती है, जहाँ से वह वनोपज एकत्रित करती है। यही वनोपज न केवल उनके परिवार का पेट भरती है, बल्कि उनकी आर्थिक आजीविका का भी प्रमुख साधन बनती है। लेखक राकेश कुमार सिंह ने अपने उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' में संथाल आदिवासी स्त्रियों के इस संघर्षशील जीवन का अत्यंत संवेदनशील चित्रण किया है। अन्य आदिवासी समुदायों की स्त्रियों की भाँति संथाल नारियाँ भी दिनभर के घरेलू कार्यों से निवृत्त होकर, भोजन एवं आवश्यक सामग्री की खोज में जंगलों की ओर निकल पड़ती हैं। उपन्यास में संथाल नारियों द्वारा वनोपज संग्रहण की प्रक्रिया को इस प्रकार चित्रित किया गया है- "गिरि-पड़ी सूखी पत्तियों का ईंधन अभी भी बटोर लाती थीं संथाल स्त्रियाँ... बाघामंडी की लड़कियाँ जंगल के भीतर तक धँस पड़ती थीं। करील, गँता, बेल और करौंदे बीनती थीं। बड़े-बड़े बाँस के खाँचों में सूखे पत्ते बटोर लाती थीं।" आदिवासी नारी की श्रमशीलता उसका स्वाभाविक गुण है, जो उसे बीहड़ जंगलों को भी खेती योग्य भूमि में बदलने की प्रेरणा प्रदान करता है। अपने अटूट संकल्प, अदम्य साहस और कठिन परिश्रम के बल पर उसने अनेक दुर्गम स्थानों को न केवल निवास योग्य बनाया है, बल्कि वहाँ उपजाऊ खेत भी तैयार किए हैं। इस कार्य में

आदिवासी नारियों का योगदान अत्यंत सराहनीय और प्रेरणास्पद रहा है। आदिवासी महिलाएँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों का सहचर बनकर कार्य करती हैं। वे कंधे से कंधा मिलाकर अपने समुदाय के आर्थिक और सामाजिक विकास में भागीदारी निभाती हैं। उनकी सहभागिता ने यह सिद्ध कर दिया है कि संसाधनों की कमी के बावजूद, यदि श्रम और सहयोग की भावना हो, तो कोई भी समाज प्रगति की दिशा में अग्रसर हो सकता है। आदिवासी नारियों के कठोर श्रम और जुझारूपन का सजीव चित्रण प्रसिद्ध लेखक हरिराम मीणा ने अपने उपन्यास **‘धूणीतपे तीर’** में किया है। इस उपन्यास में स्त्री-पुरुष मिलकर घने वनों को खेती योग्य भूमि में बदलने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं। जंगलों की विशाल झाड़ियों, नागफणी और कंटीली झाड़ियाँ काटना, तथा धरती की गोद में गहराई तक समाई जड़ों को उखाड़ फेंकना अत्यंत श्रमसाध्य कार्य है। लेखक ने इस श्रम-संस्कृति का वर्णन इन शब्दों में किया है- **“अगले दिन सूरज उगने से पहले ही आदिवासी औरत-मर्द दड़वाह के जंगल में पहुंच गये। गेंती, फावड़े, कुदाल व कुल्हाड़ियाँ लेकर जंगल के दरख्तों, थार, नागफणियों और झाड़ियों को काटने के काम में सामूहिक रूप से जुट गए। थार नागफणी और कंटीली झरबेरी को काट कर उखाड़ने में काफी मेहनत करनी पड़ रही थी।”**<sup>4</sup> आदिवासी नारियों ने जीवन यापन के सभी संभावित उपाय अपनाए, किंतु समाज ने उन्हें हर स्तर पर हाशिए पर ही रखा। अत्यधिक निर्धनता और अभाव के कारण, वे भूख-प्यास से जूझती रहीं और अंततः जीवन रक्षा के लिए उन्हें अवैध कार्यों की ओर अग्रसर होना पड़ा। रोजगार के अभाव में आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उन्होंने मजबूरी में शराब के व्यापार को अपनाया। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास **‘अल्मा कबूतरी’** में कबूतरा जाति को जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के लिए संघर्ष करते हुए चित्रित किया गया है। भूमिहीन कबूतराओं ने किसानों से थोड़ी-सी जमीन निवास हेतु मांगी, किंतु पैसे न होने के कारण वे भूमि का मूल्य अदा नहीं कर सकीं। तब उनके समुदाय के मुखिया ने किसानों को मुफ्त शराब देने और बदले में जमीन देने का प्रस्ताव रखा, जो अंततः स्वीकार कर लिया गया। किसानों की अनुमति मिलने पर कबूतरी महिलाओं ने खेतों में ही शराब की भट्टियाँ स्थापित कीं और इस व्यवसाय को अपनी आजीविका का साधन बना लिया। उपन्यास में इस व्यापार का चित्रण कुछ इस प्रकार किया गया है- **“खेतों में कच्चे ओटले उठने लगे। भट्टियाँ खुदने लगी। घड़े और कनस्तर आए। महुआ और गड़ के खमीर ने फसलों को घेर लिया। दारू और दारा के मेल ने गांवों पर मूठ मारी। किसान मंत्रबिद्ध से खींचे चले आते। कबूतरियाँ ढालती, पिलाती। बसावटें आबाद हो गईं। आज तो हाल यह है कि आदमी लैसेंसी ठेकेदारों के यहाँ न जाकर कबूतरा-बस्ती में पहुंचता है। वैध-अवैध का भेद भुलाकर छककर पीता है।”** भारत एक ऐसा देश है जहाँ नारी को सदा से देवी के रूप में पूजनीय माना गया है। यहाँ तक कि राष्ट्र को भी ‘भारत माता’ कहकर संबोधित किया जाता है। नारी अपने विविध रूपों में सम्मान की अधिकारिणी है, किंतु जब वह आर्थिक तंगी और पारिवारिक जिम्मेदारियों के बोझ से विवश होकर देह व्यापार का मार्ग अपनाने को बाध्य हो जाती है, तब वही समाज उसकी गरिमा को कलंकित दृष्टि से देखने लगता है। उसकी संपूर्ण प्रतिष्ठा धूमिल हो जाती है। वेश्यावृत्ति न केवल उस स्त्री की अस्मिता को आघात पहुंचाती है, बल्कि पूरे समाज की नैतिक संरचना को भी प्रश्नांकित करती है। परिणामस्वरूप, इस क्षेत्र से जुड़ी महिलाओं को समाज तिरस्कार, बहिष्कार एवं अमानवीय व्यवहार का सामना करने के लिए छोड़ देता है। देह व्यापार में संलग्न महिलाएँ विभिन्न जातियों और समुदायों से आती हैं। इस क्षेत्र में आने का प्रमुख कारण निर्धनता है, यद्यपि आधुनिक

करती है। परंतु यदि हम विशेष रूप से आदिवासी नारियों की बात करें, तो उनके देह व्यापार में प्रवेश का मूल कारण भौतिक विलास नहीं, बल्कि जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति है। जातीय भेदभाव एवं सामाजिक उपेक्षा के चलते आदिवासी महिलाओं को उचित रोजगार के अवसरों से वंचित रखा गया। बेरोजगारी और भुखमरी ने उन्हें अस्तित्व संकट की ओर धकेल दिया। जब जीविका के अन्य साधन समाप्त हो गए, तब तथाकथित सभ्य समाज ने उनकी विवशता का लाभ उठाकर उन्हें देह व्यापार में धकेल दिया। भूख, गनगना, जातिगत उत्पीड़न और प्रशासनिक बर्बरता की शिकार ये महिलाएँ धीरे-धीरे इस दलदल में धँसती चली गईं। शरद सिंह द्वारा रचित उपन्यास **‘पिछले पन्ने की औरतें’** में बेड़िया समुदाय की महिलाओं की पीड़ा, उनकी आर्थिक विवशता और उनके साथ हुए दैहिक शोषण का मार्मिक चित्रण मिलता है। हमारा समाज दोहरे मापदंड अपनाता है— एक ओर तो वह आदिवासी महिलाओं को जातिगत आधार पर हेय दृष्टि से देखता है और उन्हें मुख्यधारा से अलग कर देता है, वहीं दूसरी ओर उन्हीं महिलाओं का उपभोग कर अपने कामुक स्वार्थों की पूर्ति भी करता है। परिणामस्वरूप, बेड़ियाँ मात्र परिवार का पेट भरने के लिए पुरुषों की कामनाओं का शिकार बनने को विवश हो जाती हैं। शरद सिंह बेड़िया नारियों की विवशता को इन शब्दों में व्यक्त करती हैं— **“वे भूख, गरीबी और कामुक-पशुता के विरुद्ध जीवित रहना चाहती थी और इस के बदले में उन्हें ‘पतुरिया’-‘नचनिया’-‘नचनारी’ बनने के लिए विवश किया जा रहा था।”**<sup>6</sup> देहव्यापार कोई महिला अपनी रुचि या शौकवश नहीं करती, बल्कि यह उसकी आर्थिक विवशता का परिणाम होता है। यदि उन्हें सम्मानजनक रूप से आजीविका अर्जित करने का कोई और विकल्प उपलब्ध हो, तो वे इस अपमानजनक कार्य की ओर कभी न जाएँ। तथाकथित सभ्य समाज एक ओर तो इस कार्य को नैतिकता के विरुद्ध और घृणित ठहराता है, वहीं दूसरी ओर अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए उन्हीं आदिवासी नारियों को इस कार्य में ढकेलता है। स्वयं को सभ्य कहलाने वाला समाज परोक्ष रूप से इस व्यापार का लाभ उठाता है, जबकि वास्तविकता यह है कि आदिवासी महिलाएँ महज अपने परिवार का भरण-पोषण करने की मजबूरी में यह कार्य करती हैं। इसके बावजूद समाज उन्हें हेय दृष्टि से देखता है और उन्हें अपराधी की तरह ठहराता है। शरद सिंह के उपन्यास **‘पिछले पन्ने की औरतें’** में जब लेखिका को श्यामा के देहव्यापार में संलग्न होने की जानकारी मिलती है, तो वह श्यामा को यह कार्य छोड़ देने की सलाह देती है। इस पर श्यामा बड़ी स्पष्टता से अपनी सामाजिक-आर्थिक विवशता प्रकट करते हुए कहती है— **“छोड़ दूंगी तो खाऊंगी कहाँ से? अपना अपने बच्चों का, अपने परिवार का पेट पालने के लिए कुछ तो करना ही होगा।”**<sup>7</sup> आदिवासी समाज की स्त्रियाँ जब भयंकर आर्थिक संकटों से घिर जाती हैं, तो उनके समक्ष जीवन-निर्वाह की चुनौतियाँ केवल शारीरिक श्रम तक सीमित नहीं रह जाती, बल्कि उन्हें सामाजिक मर्यादाओं और आत्मसम्मान की कीमत पर भी कठोर निर्णय लेने के लिए विवश होना पड़ता है। रणेंद्र द्वारा रचित बहुचर्चित उपन्यास **‘ग्लोबल गाँव के देवता’** में आदिवासी समुदाय, विशेषतः असुर जनजाति की नारियों की इस त्रासदीपूर्ण स्थिति का अत्यंत यथार्थपूर्ण और संवेदनशील चित्रण किया गया है। उपन्यास में यह उजागर किया गया है कि किस प्रकार एक ओर तो प्राकृतिक संसाधनों पर बाहरी शक्तियों का कब्जा है, और दूसरी ओर जीवन यापन के लिए बुनियादी साधनों की कमी ने आदिवासी स्त्रियों को देहव्यापार जैसे अमानवीय रास्ते पर चलने को विवश कर दिया है। उपन्यास में असुर नारियों के संदर्भ में उल्लेख किया गया है

नहीं होता, जब बाल-बच्चों को दो वक्त की रोटी नहीं मिलती, और जब पुरुषों को पलायन के लिए मजबूर होना पड़ता है, तब स्त्रियाँ ही अपने परिवार की आशा की अंतिम किरण बनकर सामने आती हैं। परंतु यह आशा स्वयं के आत्मबलिदान से जुड़ी होती है। ऐसी ही विवशताओं के बीच कई असुर युवतियाँ परिवार के भरण-पोषण हेतु समाज द्वारा कलंकित राह चुनने के लिए बाध्य होती हैं। उपन्यास में यह स्थिति अत्यंत मार्मिक रूप में इस कथन के माध्यम से प्रस्तुत की गई है- **“घर में तीन-चार माह से ज्यादा का अनाज नहीं हो तो कौन बेटों को गाँव छोड़ने और बेटियों को डेरा में काम के बहाने रखनी बनने से रोक सकता है।”**<sup>8</sup> आदिवासी समाज की आर्थिक संरचना में नारियों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। परंपरागत रूप से आदिवासी महिलाएँ ही परिवार के भरण-पोषण और आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु जिम्मेदार रही हैं। सदियों से जंगलों पर निर्भर यह समाज अपनी अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति वनों से करता आया है। परंतु वन संरक्षण कानूनों के लागू होने के बाद आदिवासियों, विशेष रूप से आदिवासी महिलाओं, का वनों पर पारंपरिक अधिकार समाप्त हो गया। फलस्वरूप उन्हें आजीविका के लिए वैकल्पिक स्रोतों की ओर मुड़ना पड़ा।

शिक्षा, संसाधनों और व्यापारिक कौशल के अभाव में ये महिलाएँ धीरे-धीरे आर्थिक शोषण का शिकार बनने लगीं। आदिवासी समाज में हाट-बाजार की अवधारणा सामुदायिक स्वरूप की होती है, जहाँ महिलाओं का प्रमुख नियंत्रण रहता है। वे अपने उत्पादों का मोल-भाव स्वयं करती हैं और यह बाजार उनके आत्मनिर्भर आर्थिक जीवन का सशक्त माध्यम बनता है। किन्तु जब यही महिलाएँ गाँव से बाहर, मुख्यधारा के शहरी या गैर-आदिवासी बाजारों में जाती हैं, तो उन्हें वहाँ के व्यापारिक व्यवहार, मूल्य निर्धारण एवं मूनाफाखोरी की प्रवृत्तियों की समझ नहीं होती। इस कमजोरी का लाभ गैर-आदिवासी व्यापारी, बनिए तथा दलाल उठाते हैं, और उन्हें ठगकर या डराकर कम मूल्य पर उनकी वस्तुएँ खरीद लेते हैं। इस सामाजिक और आर्थिक विडंबना का मार्मिक चित्रण राकेश कुमार सिंह के उपन्यास *‘पठार पर कोहरा’* में मिलता है। उपन्यास की प्रमुख पात्र **रंगेनी** सब्जियाँ बेचकर अपनी आजीविका चलाती है। स्थानीय बाजार में वह आत्मविश्वास से व्यापार करती है, किन्तु जब वह शहर के बाजारों में पहुँचती है तो वहाँ की व्यापारिक चालबाजियों और मानसिकता से अनभिज्ञ होने के कारण ठगी जाती है। उपन्यासकार ने रंगेनी की स्थिति को रेखांकित करते हुए लिखा है- **“शहर बाजार की समझ न होने के कारण आदिवासी शहरों में प्रायः ठगे भी जाते हैं। कभी निमोहिये शहराती लौंडे भी धौंस-रौब दिखाकर सोने जैसी चीज़े कौड़ियों के मोल उठा लेते हैं। कल मिलाकर जंगल के बाहर व्यापार करने जाने में हजार झमेले हैं।”**<sup>9</sup> आदिवासी महिलाएँ प्रारंभ से ही आत्मनिर्भर रही हैं। उनकी जीविका का आधार पारंपरिक रूप से वनों और प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर रहा है, परंतु समय के साथ लागू वन-कानूनों ने उनके जीवन-यापन के प्राकृतिक स्रोतों को सीमित कर दिया। परिवार की आर्थिक जिम्मेदारी मुख्यतः उनके ही कंधों पर होती है, जिसके कारण उन्हें परिस्थितियों के अनुसार नए आय-साधनों की खोज करनी पड़ी। कुछ आदिवासी महिलाएँ ऐसी भी हैं जिन्हें जीवित रहने के लिए समाज द्वारा उपेक्षित और अवैध कार्यों की ओर प्रवृत्त होना पड़ा। जहाँ एक ओर आधुनिक समाज की महिलाएँ शिक्षा और सुविधाओं के सहारे आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर हैं, वहीं आदिवासी महिलाएँ बिना इन साधनों के भी अपने श्रम और संकल्प से परिवार को सहारा देती आई हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि आदिवासी महिलाओं की आत्मनिर्भरता उनके सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन का अभिन्न अंग रही है।

सन्दर्भ सूची:-

1. मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, महुआ माझी, पृ.25
2. महारण्य में गिद्ध, राकेश कुमार सिंह, पृ.44
3. जो इतिहास में नहीं है, राकेश कुमार सिंह, पृ.143
4. धूणी तपे तीर, महुआ माझी, पृ. 280
5. अल्मा कबूतरी, मैत्रेय पुष्पा, पृ.12
6. पिछले पन्ने की औरते, शरद सिंह, पृ.92
7. पिछले पन्ने की औरते, पृ.24
8. ग्लोबल गावं के देवता, पृ.39
9. पठार पर कोहरा, पृ.18